अङ्क-२४
जुलाई-दिसम्बर २०१४

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

संस्कृति और पर्यावरण - वैदिक दृष्टि

डॉ. सुधीर कुमार

यह निर्विवाद-रूप से स्वीकार किया जाता है कि वेद न केवल भारतीयसंस्कृति अपितु विश्व की संस्कृति की प्राचीनतम धरोहर हैं। ज्ञान के लिये प्रसिद्ध ये वेदशास्त्र ऋषियों के हृदय में विद्यमान ईश्वर के साक्षात्कार का साक्षात्प्रमाण हैं। सभी धर्मों ने वेदों की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है तथा अपने मत की स्थापना कर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया है। जिन्होंने वेद को नहीं माना उन्होंने भी वेद की निन्दा करके अपने मत की स्थापना करना ही उचित समझा, क्योंकि वे जानते थे कि वेद की निन्दा किये बिना भी अपने मत की स्थापना करना सम्भव न होगा। ज्ञान, कर्म और उपासना के लिये प्रसिद्ध ये शास्त्र अपने भीतर अथाह निधि को समाये हुये हैं। जो व्यक्ति जिस भाव से वेद में जिस वस्तु का अन्वेषण करना चाहता है, वेद उसको निराश नहीं करते हैं।

संस्कृति की परिभाषा

यजुर्वेद में संस्कृति की परिभाषा को स्पष्ट करते हुये कहा है कि - '**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोअग्निः।**' अर्थात् संस्कृति समाज का निर्माण करने वाला वह तत्त्व है जिसके द्वारा शोधन, परिमार्जन और संस्करण के द्वारा व्यक्ति एवं समाज में निर्मलता एवं पवित्रता का सञ्चार होता है। अनेक व्यक्ति मिलकर समाज तथा जाति का निर्माण करते हैं। अतः निर्मल एवं संस्कृत-व्यक्तियों के समाज तथा राष्ट्र भी सुसंस्कृत होते हैं और उनके निर्मलता-विधायक तत्त्व । संस्कृति शब्द अँग्रेजी के कल्चर शब्द का पर्यायवाची बन गया है। कल्चर शब्द का विशुद्ध पर्यायवाची वैदिक शब्द कृष्टिः है। जैसे कृषि-कर्म में भूमि का शोधन, तदुपरान्त बीज वपन किया जाता है और सिञ्चन-विरेचन आदि संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को शस्यसम्पन्न बनाया जाता है, वैसे मानव में भी सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमि तैयार की जाती है। जिस मानव का मन अधिक विकाररहित तथा विशुद्ध है, उतना ही वह अधिक संस्कार और सुसंस्कृत कहा जाता है। संस्कृत के इस व्यापक-रूप को विश्ववारा संस्कृति का भी नाम दिया गया है अर्थात् विश्व के द्वारा वरणीय संस्कृति।

संस्कृत-भाषा में सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग में संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। इस उत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द का अर्थ परिष्कृत कार्य अथवा उत्तम स्थिति का बोध करवाना है किन्तु इसका भावार्थ और तात्पर्यार्थ अत्यन्त व्यापक है। वस्तुतः यह शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों और उसकी नैसर्गिक शक्तियों और उनके परिष्कार का प्रतीक है। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों

में "संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य के स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त रहता है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता है, यह तो युग-युगान्तर में होता है।" मैथ्यू आर्नोल्ड का कथन है कि विश्व में जो कुछ उत्तमोत्तम कहा गया है या जाना गया है उससे स्वयं को भिज्ञ करवाना संस्कृति है। **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की अभिलाषा एवं संरक्षण ही संस्कृति का प्राणतत्त्व है। संस्कृति शब्द के साथ प्रायः सभ्यता शब्द का भी प्रयोग मिलता है। सभ्यता शब्द का सामान्य अर्थ है सभा में बैठने योग्य अथवा सभा में बैठने की योग्यता रखने वाला। इस दृष्टि से सभ्यता शब्द का प्रधान अर्थ सामाजिकता है। सभ्यता सामाजिक प्रतिबन्धों (विधि-निषेधों) पर बल देती है। शिष्टाचारगत नियमों के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व एवं सामाजिक आचरण भी सभ्यता के द्वारा निर्दिष्ट होता है। सभ्यता का सम्बन्ध मूर्त्त एवं भौतिक पदार्थों से है जो हमें उत्तराधिकार में भले ही प्राप्त न हों, परन्तु हम अपनी आवश्यकता के अनुसार इनका निर्माण कर लेते हैं। अतः सभ्यता के द्वारा मनुष्य की भौतिक सुख-समृद्धि तथा उसके अन्तर्गत व्यवहार का परिज्ञान होता है। उसी आधार पर जो राष्ट्र भौतिक-दृष्टि से अधिक प्रगतिशील हैं वे स्वयं को दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक सभ्य मानते हैं। संस्कृति आन्तरिक उन्नति है तथा सभ्यता बाह्य। संस्कृति का अनुकरण किया नहीं जा सकता, उसे अपनाना होता है, किन्तु सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है। संस्कृति को मापने का कोई मापदण्ड नहीं है, किन्तु सभ्यता को मापने का मापदण्ड उपयोगिता है। संस्कृति विकसित नहीं होती किन्तु सभ्यता का निश्चय ही विकास होता है। प्रत्येक देश की सभ्यता का विकास स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। सभ्यता और संस्कृति दोनों ही शब्द परस्पर भिन्न होते हुये भी एक दूसरे से संयुक्त हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण इनको अलग नहीं किया जा सकता। संस्कृति के बिना कोई देश वा जाति सभ्य नहीं कहला सकती और सभ्यता के बिना संस्कृति की कल्पना करना भी दुष्कर है। सभ्यता से यदि व्यक्ति के शारीरिक और भौतिक विकास की सूचना मिलती है तो संस्कृति बौद्धिक और मानसिक प्रगति को परिभाषित करती है। संस्कृति यदि आत्मा है तो सभ्यता शरीर है। संस्कृति आन्तरिक है तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शान्ति है तो दूसरे में चमक दमक। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि की ओर। एक में निःश्रेयस है तो दूसरे में अभ्युदय। एक में नितान्त ऐकान्तिकता है तो दूसरे में सामाजिकता।

वेदों में भारतीय सामाजिकता, सभ्यता, नैतिकता, मानवता आदि के सन्देश पदे-पदे प्राप्त होते हैं। इसमें राजनीति, आर्थिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, धार्मिकता आदि का विशद वर्णन मिलता है। वैदिकसंस्कृति ब्रह्ममुहूर्त्त में जागरण की संस्कृति है। यह असत् से सत् की ओर ले जाने वाली संस्कृति है। यह तमस् से प्रकाश की ओर ले जाने वाली संस्कृति है। मृत्यु से अमरता के पथ पर ले जाती है। **असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।** वैदिकसंस्कृति सुखी, गृहस्थ-

जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली दम्पतीसंस्कृति के नाम से विश्व में प्रसिद्ध है। यह सन्देश देती है अक्षक्रीडा के निषेध का, कृषि करने का, वित्त में रमण करने का। सामाजिक आचार-व्यवहार को संवादसूक्तों के माध्यम से सहज और सरल ढँग से प्रस्तुत किया गया है। बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, आत्मतत्त्व, पुर्नजन्म और वर्णाश्रमव्यवस्था जैसी सुन्दर व्यवस्थायें वेद के सहाय से ही उपलब्ध होती हैं। भारतीय साहित्य में वेद से भिन्न कहीं कोई सिद्धान्त अलग प्रतीत नहीं होता है।

वैदिक-आस्तिकसंस्कृति

वेद में ईश्वर और उसकी उपासना के सन्दर्भ में अनेकानेक मन्त्र प्राप्त होते हैं जो न केवल उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हैं अपितु उसकी सत्ता की भी पुष्टि करते हैं। यथा सन्ध्या के मन्त्र, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थनोपासना का मन्त्रपाठ, वेद के अग्नि, इन्द्र, सविता, वायु, पुरुष, प्रजापति, मन आदि के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले सूक्त और मन्त्र। यजुर्वेद का ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद् आदि उसी परमात्मा के स्वरूप का अपनी विशिष्ट वर्णन शैली में वर्णन करते हुये दिखाई देते हैं। व्यक्ति का आस्तिक होना स्वयं वेदों के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापक है।

अक्षनिन्दा की संस्कृति

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का चौंतीसवाँ सूक्त एक सन्देश प्रस्तुत करता है। उन लोगों के लिये जो अपना अपने परिवार का जीवन जुआँ खेलकर नष्ट कर रहे हैं। न केवल जुआँरी की स्वयं की सामाजिक प्रतिष्ठा अपितु उसके समस्त परिवार की प्रतिष्ठा दाँव पर लगती है। जुआँरी स्वयं कहता है कि - **द्वेष्टि श्वश्रूरप॑ जा॒या रु॑णद्धि॒ न नाथि॒तो वि॑न्दते मर्डि॒तार॑म्॰** अर्थात् मुझ जुआँरी से सास द्वेष करती है, पत्नी विरुद्ध है। प्रार्थना करने पर भी मैं सुख देने वाले को प्राप्त नहीं करता हूँ। जुआँ व्यक्ति से क्या नहीं करवा लेता है अर्थात् उत्तम पत्नी भी मित्रों की सुखकारक बन जाती है, वह स्वयं भी चोरी आदि के निकृष्ट कर्मों में लिप्त हो जाता है। कभी राजपुरुष पकड़कर ले जाते हैं, कभी परिवार वाले पहचानने से इन्कार कर देते हैं ; इत्यादि। वेद भगवान् सूक्त के अन्त में एक सन्देश दे रहा है -

अ॒क्षैर्मादी॑व्यः कृ॒षिमित्कृ॑षस्व वि॒त्ते र॑मस्व ब॒हुमन्य॑मानः।
तत्र॒ गावः॑ कितव॒ तत्र॑ जा॒या तन्मे॒ वि चष्टे सवि॒तायम॒र्यः॥ (ऋग्वेद १०.३४.१३)

ब्रह्म-मुहूर्त में जागरण की संस्कृति

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के चौदहवें सूक्त में ऐश्वर्य के इच्छुक सद्गृहस्थ की प्रातःकाल उठते ही सब ऐश्वर्यों के निधि भगवान् के प्रति जो भावनायें होनी चाहिये थीं, उनका चित्रण किया है। सूक्त की रचना बड़े ही सरल शब्दों, भावों और मर्मों से भरे हुये हैं। हम प्रातःकाल के नवीन कार्य के आरम्भ करने के समय में प्रकाश और गर्मी देकर आगे ले जाने वाले अग्नि-रूप भगवान् को इस प्रातःकाल के समय में, ऐश्वर्यशाली और विघ्नों का विदारण करने वाले इन्द्र-रूप भगवान् को इस प्रभात-वेला में, सबसे स्नेह करने वाले मित्र-रूप और सबके वरणीय तथा समृद्ध बनाने वाले वरुण-रूप भगवान् को इस

प्रभात-वेला में, सब तक पदार्थों को लाने वाले अश्विनौ-रूप भगवान् को अपनी सहायता के लिये बुलाते हैं।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥ (ऋग्वेद ७.४१.१)

दम्पती-संस्कृति

पति और पत्नी मिलकर गृहस्थ की गाड़ी को एक किनारे से दूसरे किनारे पर लगाते हैं। एक उत्तम गृहस्थ को अपने जीवन की सफलता के लिये क्या करना चाहिये ? इसका वर्णन वेद में किया गया है - जो विशेष ज्ञानवान् प्रातःकाल में जागने वाला, सुन्दर, वीर, मानव प्रभात-वेला में रमण करने योग्य आनन्दमय पदार्थ को धारण करता है। जो निरन्तर धनादि की पुष्टि से पुत्र-पौत्रादि सन्तानों को विद्या आदि से बढ़ाता हुआ निरन्तर अपने उत्तम कर्मों में रत रहता है, वह व्यक्ति सदैव सुखी होता है।

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥ (ऋग्वेद १.१२५.१)

वेद आदेश देता है कि - जिस दम्पती के पास धर्म से एकत्र किया धन,धर्म,विद्या और अन्य बहुत सारे पदार्थ विद्यमान हैं। उनको प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, चित्र-विचित्र अद्भुत सुख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति सूर्य के प्रकाश के समान तेजस्वी, विद्यादान से युक्त होकर मोक्ष का सेवन करते हुये पूर्ण आयु को भोगते हैं।

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ (ऋ. १.१२५.६)।

वेद आदेश दे रहे हैं कि पति और पत्नी धर्म का पालन करें, उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करें।

रामायण में पञ्चवटी का आख्यान -

फलं दृष्ट्वा पुष्पं दृष्ट्वा दृष्ट्वा च नवयौवनम् ।
एकान्ते च काञ्चनं दृष्ट्वा कस्य नो विचलेन्मनः॥
माता पतिव्रता यस्य पिता यस्य च धार्मिकः।
एकान्ते च काञ्चनं दृष्ट्वा कस्य नो विचलेन्मनः। (रामायण)

स्वर्ग-गृहस्थ

हिन्दी के किसी कवि ने वेद के सन्देश को अपनी भाषा में कहा है **- अनाज पुराना, घी नया, घर सतवन्ती नार। नन्हे-नन्हे बालकां, स्वर्ग निशानी चार॥** वेदों में किसी अन्य लोक में स्वर्ग की कल्पना नहीं की गई है, अपितु गृहस्थ रहते हुये ही गृहस्थ के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को ही संसार का स्वर्ग माना गया है। जैसे कि कहा गया है - हे प्रातःकाल की उषा के समान सुन्दर वधू ! तू उत्तम, स्वच्छ, स्वर्णयुक्त रथ पर आरुढ़ होकर पति के लिये विवाह को अत्यन्त सुखदायी बनाकर इसे अमृत के समान बना दे।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतारतिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ (ऋ 10.34.14)

वेद के इस सूक्त में भारतीय परम्परा के मूलसूत्र यथा भिन्न गोत्र की कन्या, कन्यादान, विवाह का सामाजिकीकरण आदि स्पष्ट-रूप से वर्णित है। दम्पती के सुख और वैभव की कामना करते हुये कहा गया है कि - हमारे मार्ग काँटों से रहित हों, जिनसे हमारे स्नेहीजन उत्तम फलों को प्राप्त होते हैं। हमें न्यायकारी, सुखदाता इन मार्गों से उत्तम प्रकार से ले चलें। हे विद्वज्जनों ! हमारा पति-पत्नीभाव संयम-सहित और दृढबद्ध हो। **अनृक्षरा ऋजवः.....सुयमस्तु देवाः॥** (ऋ. १०.८५.२३)

ऋग्वेद में नारी का स्थान

ऋग्वेद में नारी का स्थान अत्यन्त उच्च है। उसको रानी के समान रहने का आशीर्वाद दिया जाता था। यद्यपि पत्नी दूसरे परिवार से आती थी किन्तु समाज में उसकी स्थिति इतनी उन्नत थी कि तत्कालीन विचारकों ने उसको पति के परिवार का अभिन्न अङ्ग ही नहीं अपितु उसे श्वसुर, देवर, ननद पर शासन करने को भी कहा है।

सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (ऋ. १०.८५.४६)।

पति की सेवा करने वाली स्त्री को अनवद्य कहा गया है - **अनवद्या पतिजुष्टेव नारी** (ऋ. १.७३.३)। पतियुक्त नारियाँ ही अङ्गलेप और आभूषण धारण कर सकती थीं -

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ (ऋ. १०.१८.७)।

ऋग्वैदिक विचारकों ने विधवा के लिये इसलिये निषेध माना है क्योंकि ये परपुरुष के आकर्षण का कारण हैं। तत्कालीन समाज में ऐसी धारणा थी कि पत्नी सुलक्षिणी तथा कुलरक्षिणी होती है क्योंकि इन्हीं धारणाओं के कारण ही वधू को अदुर्मङ्गली, अघोरचक्षु तथा अपतिघ्नी होने की कामना की गई है।

अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव०॥ (ऋ. १०.८५.४३)

वर्णव्यवस्था की संस्कृति

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

वेद वर्णव्यवस्था की संस्थापना कर समाज के चारों वर्णों को परस्पर मिलकर चलने का सन्देश प्रस्तुत करता है। समाज के ये चारों पाये जब ठीक प्रकार से कार्य करते हैं तभी समाज ठीक दिशा में गति करता है। एक भी पाया विकृत होने पर समाज की दशा और दिशा विकृत हो जाती है। वेद यह भी कहता है कि ये चारों ही ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण समान-रूप से आदरणीय हैं। जैसे शरीर में सभी

अङ्गों का अपना यथा सामर्थ्य महत्त्व है उसी प्रकार समाज में चारों वर्णों का सम्मान तथा महत्त्व होना चाहिये।

सामाजिक आदर एवं पर्यावरण

सामाजिक पर्यावरण तभी सही बन पाता है जब सब परस्पर मिलकर चलें, मिलकर बोलें और सबके मन एक समान हों।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ (ऋग्वेद १०.१९१.२)।

हम सभी के समाज एवं राष्ट्र की उन्नति हेतु चिन्तन और मनन एक समान हो। हमारी सबकी समितियाँ भी समान हों, हम सब मिलकर एक चित्त वाले होकर कार्य करें।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ (ऋग्वेद १०.१९१.३)

हमारे परस्पर सङ्कल्प समान हों, हमारे हृदय समान हों, हमारे मन समान हों तथा हमारे परस्पर किसी से कोई विरोध न हो। हमारा परस्पर अविरोध ही हमें उन्नति के मार्ग पर ले जायेगा।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋग्वेद १०.१९१.४); अथर्ववेद (३.३०.३)

वेद परस्पर भाई और भाई के बीच वर्तमान में बढ़ रही दूरियों के निराकरण का उत्तम सन्देश दे रहा है -

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

वेद परस्पर पिता-पुत्र और पति-पत्नी के मधुर सम्बन्धों पर आदेश दे रहा है कि -

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

भौतिकपर्यावरणीय-संस्कृति

भौतिक पर्यावरण को शुद्ध करने का केवल एक ही मार्ग है और वह है प्राचीन भारतीय यज्ञपद्धति। यदि आज का समाज इस पद्धति को अपना ले तो वह न केवल शारीरिक रूप से अपितु बौद्धिक-रूप से भी स्वस्थ रहेगा और इसीसे संस्कारों और वेदों की रक्षा भी होगी।

सामाजिक-सद्भावना की संस्कृति

ऋग्वेद का सञ्ज्ञानसूक्त मानव-समुदाय की सुचारु गतिमयता के लिये पारस्परिक समझ का प्रतीक है। इस भाव को लेकर चलने से न केवल सामाजिक सद्भाव बढ़ता है अपितु विश्वशान्ति में भी इनकी अहम् भूमिका है। एक मन्त्र में कहा गया है कि - तुम सभी एक मत का सञ्चार करो और एक मत

से बोलो। जिस प्रकार प्राचीनकाल में देवताओं ने हृदय से एकमत होकर अपने हविष्य को एक मत होकर (बिना कलह के) स्वीकार किया था, उसी प्रकार तुम्हारे मन भी हो जायें।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनाँसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥ (ऋग्वेद १०.१९१.२)।

दूसरे मन्त्र का भाव है कि - तुम सभी का मन्त्र एक हो, तुम्हारी सभा एक हो, तुम्हारे मन एक हों, तुम्हारा चित्त एक हो, तुम सभी के एक ही मन्त्र से अभिप्राय करके मैं एक ही आहुति से होम करता हूँ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ (ऋग्वेद १०.१९१.३)

डॉ. सुधीर कुमार
सहायक आचार्य,
विशिष्ट संस्कृत-अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू वि.वि., दिल्ली